

सनातन जैनग्रंथमाला ।

२३

श्रीसोमदेवसूरि विरचित

द्वादशानुप्रेक्षा ।

यशस्तिलकचम्पू काव्यसे

उद्धृत.

वसंततिलका छंद ।

उत्सृज्य जीवितजलं बहिरन्तरेते
रिक्ता विशंति महतो जलयंत्रकल्पाः।
एकोद्यमं जरति यूनि महत्यणौ च
सर्वंकषः पुनरयं यतते कृतान्तः ॥

अर्थ– जिसप्रकार अरहटकी घडीके घडे कूपके भीतर से जल भरकर लाते हैं और उसे बाहर फेंककर खाली

होकर फिर जल भरनेके लिए भीतर चले जाते हैं उसीप्रकार यह श्वासोच्छ्वासकी वायु भीतरसे जीवनरूपी जलको भर कर लाती है और उसे बाहर फेंककर खाली होकर फिर उसी जीवनरूपी जलको भरनेके लिये भीतर चली जाती है। उसका यह क्रम रात दिन प्रतिक्षण चलता रहता है और इसप्रकार प्रतिक्षण जीवन घटता रहता है। सबको दुःख देनेवाला दावानल अग्निके समान, और सबको प्रत्यक्ष होनेवाला यह यमराज बूढोंको, जवानोंको, राजा महाराजा आदि महा पुरुषोंको और दरिद्री आदि छोटे पुरुषोंको नाश करनेके लिये ही एकमात्र सदा प्रयत्न करता रहता है। इसके सिवाय उसे और कुछ काम है ही नहीं।

भावार्थ— हमलोगोंका जो श्वासोच्छ्वास प्रतिक्षण चलता रहता है उसीके द्वारा हम लोगोंकी आयु प्रतिक्षण कम होती जाती है जोकि एक दिन अवश्य पूरी हो जायगी इसके सिवाय यमराज प्रतिक्षण जीवोंको भक्षण करनेके उद्योगमें लगा रहता है, आयु पूरी होने पर तो वह उठा ही ले जाता है परन्तु कभी २ वह बिना आयु पूरी हुए भी उठा ले जाता है इसलिये प्रत्येक प्राणीको मरनेके लिये सदा तैयार रहना चाहिये। इस मनुष्य जन्मको पाकर सबसे पहिले रत्नत्रयकी प्राप्ति कर लेना चाहिये जिससे कि बीच में भी पर्याय बदल जाने पर किसी प्रकारका दुःख न हो और मनुष्य जन्म सफल हो जाय क्योंकि रत्नत्रयकी प्राप्ति

से ही यह जीव अनन्त सुखी हो सकता है अन्यथा नहीं । इस श्लोकमें जीवनका अनित्यपना दिखलाया है ।

लावण्ययौवनमनोहरणीयताद्याः
कायेष्वमी यदि गुणाश्चिरमावसन्ति ।
सन्तो न जातु रमणीरमणीयसारं
संसारमेनमवधीरयितुं यतन्ते ॥ २ ॥

अर्थ— यदि इस शरीरमें लावण्य, यौवन, सुन्दरता, रूप, सौभाग्य आदि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले गुण सदा बने रहते, नष्ट न होते तो सुन्दर स्त्रियोंके द्वारा अत्यन्त मनोहर दिखाई देनेवाले इस प्रत्यक्ष संसारको सज्जन लोग कभी छोडनेका प्रयत्न नहीं करते । भावार्थ—लावण्य यौवन आदि शरीरके गुण इस शरीरमें सदा नहीं रहते, वे हाथकी अंजलिके जलके समान क्षण क्षणमें नष्ट होते रहते हैं और नष्ट होकर फिर वे कभी दिखाई नहीं देते । इसीलिए तीर्थंकर आदि सज्जन पुरुष ऊपरसे मनोहर दिखाई देनेवाले पर वास्तवमें अत्यन्त घृणित इस संसारको छोडकर मोक्षमें जा विराजमान हुये हैं । यही समझकर भव्य जीवोंको संसारको छोडनेका सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये । इस श्लोकमें रूप लावण्यपना आदिको अनित्य दिखलाया है ।

उच्चैः पदं नयति जंतुमधः पुनस्तं
वात्येव रेणुनिचयं चपला विभूतिः ।

आभ्यत्यतीव जननीवनितासुखाय
ताः सूतवत्करगता अपि विप्लवन्ते ॥३॥

अर्थ— जिसप्रकार वेगवाला वायुका समूह धूलिके समूहको पहिले तो उड़ाकर ऊंचा ले जाता है और फिर उसे नीचे गिरा देता है उसी प्रकार यह चंचल विभूति (चंचल ऐश्वर्य) इस प्राणीको पहले तो राज्यादिक पदमें स्थापन कर बहुत ऊंचा चढा देती है और फिर रंक दरिद्र बनाकर वा नरकमें ढकेलकर बहुत नीचा गिरा देती है । ये संसारके प्राणी उत्तम स्त्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखकेलिये अत्यन्त दुःखी होते हैं उसके लिये सेवा खेती व्यापार आदि संसारके व्यापार धंधे करते हैं और रातदिन दुखी होते हैं । परंतु वे स्त्रियां बडे प्रयत्नसे मुट्ठीमें बांधे हुए पारेके समान हाथमें रहते हुए भी नष्ट हो जाती हैं। भावार्थ—जिस प्रकार राज्यादिक लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती उसी प्रकार इन्द्रियोंके सुख भी स्थिर नहीं रहते। ये दोनों ही बिजलीके समान बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं । इस श्लोकमें राज्यादिक लक्ष्मीको और ऐंद्रियक सुखोंको अनित्य बतलाया है ॥

शूरं विनीतमिव सज्जनवत्कुलीनं,
विद्यामहान्तमिव धार्मिकमुत्सृजन्ती ।
चिन्ताज्वरप्रसवभूमिरियं हि लोकं,
लक्ष्मीः खलक्षणसखी कलुषीकरोति ॥ ४ ॥

अर्थ—लक्ष्मी जिस प्रकार विनय करनेवाले पुरुषको छोड देती है उसी प्रकार सहस्रभट लक्षभट और कोटिभट (हजार, लाख और करोड मनुष्योंके समान बल रखनेवाले) पुरुषोंको हरा देनेवाले (नष्ट कर देनेवाले) अत्यंत शूरवीर पुरुषको छोड देती है अर्थात् यह विनयवानको भी छोड देती है और शूरवीरको भी छोड देती है तथा जिसप्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए पुरुषको छोड देती है उसी प्रकार परोपकारी सज्जनको भी छोड देती है। जिस प्रकार विद्यावानको सबसे बडे विद्वानको छोड देती है उसी प्रकार धर्मात्माको छोड देती है। भावार्थ—यह लक्ष्मी शूरवीर, विनयवान्, सज्जन, कुलीन, विद्वान्, धार्मिक आदि सबको छोड देती है किसी उत्तम पुरुषके पास भी नहीं ठहरती। इसके सिवाय यह लक्ष्मी चिंता वा आर्तध्यानसे उत्पन्न हुए ज्वर वा संतापको उत्पन्न करनेकी भूमि है। जिस प्रकार भूमिसे सब धान्य उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार इस लक्ष्मीसे ही सब प्रकारकी चिंताएं सब प्रकारके आर्तध्यान उत्पन्न होते हैं जिससे यह जीव सदा संतप्त ज्वर चढेके समान नितांत दुखी बना रहता है। इतना होने पर भी यह लक्ष्मी ठहरती नहीं, दुष्ट पुरुषकी मित्रताके समान थोडी देरतक ही प्रेम रखती है। लिखा भी है "अभ्रच्छाया तृणादग्निः खले प्रीतिः स्थले जलम्। वेश्यारागः कुमित्रं च षडेते बुद्बुदोपमाः।" अर्थात बादलकी छाया,

तृषाकी अग्नि, दुष्टमें किया हुआ प्रेम, सूखी भूमिपर पड़ा हुआ जल, वेश्याका अनुराग और कुमित्र ये सब बुद्बुदाके समान हैं । भावार्थ—यह लक्ष्मी सब उत्तम पुरुषोंको छोड़ देती है, चिंता आदिके द्वारा इस जीवको सदा दुखी करती रहती है और फिर भी क्षणभरमें नष्ट हो जाती है ऐसी यह लक्ष्मी लोगोंको व्यर्थ ही पापी बना रही है क्योंकि 'लोभ-मूलानि पापानि' पाप सब लोभसे ही होते हैं । यह जीव लक्ष्मीके लिये लोभ करता है और लोभसे अनेक पाप करता है फिर भी वह लक्ष्मी उसे सदा सन्तप्त किये रहती है और छोडकर शीघ्र चली जाती है । ऐसी लक्ष्मीके लिये बार बार धिक्कार हो ।

वाचि भ्रुवोर्दृशि गतावलकावलीषु
यासां मनःकुटिलतास्तटिनीतरंगाः ।
अन्तर्न मान्त इव दृष्टिपथे प्रयाताः
कस्ता करोतु सरलास्तरलायताक्षीः ॥ ५ ॥

अर्थ—अरे ! जिन स्त्रियोंके मनकी कुटिलतारूपी नदीकी लहरें उनके अन्तरंगमें—हृदयमें न समासकीं इसीलिए वे उनके वचनोंमें, भोंहोंमें, नेत्रोंमें, गमनमें, और केश पाशोंमें प्रत्यक्ष दिखाई देने लगीं ऐसी उन चंचल और दीर्घनेत्रवाली स्त्रियोंको भला ऐसा कौन पुरुष है जो सरल कर सके ?

भावार्थ—स्त्रियोंका हृदय कुटिलतारूपी लहरोंसे लबालब भरा हुआ है तिसपर यह कुटिलता इतनी भरी हुई है कि हृदयमें न समा सकनेके कारण वचन, भोंह, नेत्र, गमन, केश आदि सबमें भर गई है जोकि लोगोंको प्रत्यक्ष दिखाई देती है। ऐसी स्त्रियोंको भला कौन सरल कर सकता है अथवा उनसे कौन सुखी हो सकता है? कोई नहीं। इसीलिये ऐसी इन कुटिल स्त्रियोंसे अलग रहना ही अच्छा है इसीमें मनुष्यका सुख वा हित है।

संहारबद्धकवलस्य यमस्य लोके
कः पश्यतोहरविधेरवधिं प्रयातः।
यस्माज्जगत्त्रयपुरीपरमेश्वरोऽपि।
तत्राहितोद्यमगुणे विधुरावधानः॥ ६॥

अर्थ—यह यमराज जीवोंका संहार करनेके लिये उन्हें खानेके लिये अपनी पांचों अंगुली मिलाकर गस्सा बनाये सदा तैयार बैठा रहता है इसके सिवाय उसने सुनारके समान देखते देखते चुरानेका काम प्रारम्भ कर रक्खा है। यह देखते देखते रक्षा करते करते जीवोंको उठा ले जाता है ऐसे इस यमराजकी सीमा तक भला कौन पुरुष इस संसारमें पहुंच सकता है? कोई नहीं। क्योंकि जिस समय यह यमराज अपना उत्साह गुण प्रगट करता है, तैयार होता है, उस समय तीनों लोकके स्वामी भगवान तीर्थंकर परमदेवका प्रयत्न भी निष्फल हो जाता है।

भावार्थ—इस संसारमें कोई भी जीव यमराजकी सीमाके बाहर नहीं जा सकता यहां तककि तीर्थंकर परमदेव भी इससे नहीं बच सकते, इसके सामने सबको अपना मस्तक झुकाना पडता है और चुपचाप इसके साथ हो लेना पडता है। यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि आयु कर्म का अन्त होना ही यमराज कहलाता है। यमराज कोई और देव वा राक्षस नहीं है। आयुके अन्त होने पर सबको पर्यायांतर होना ही पडता है॥ ६॥

इत्थं क्षणक्षयहुताशमुखे पतन्ति
वस्तूनि वीक्ष्य परितः सुकृती यतात्मा।
तत्कर्म किंचिदनुसर्तुमयं यतेत
यस्मिन्नसौ नयनगोचरतां न याति॥७॥

अर्थ—इस प्रकार पहिले कहे अनुसार संसारके यौवन शरीर आदि समस्त पदार्थोंको चारों ओरसे यमराज रूपी प्रलयकालकी अग्निमें पडते हुए देखकर हेय और उपादेयका विवेक रखनेवाले प्रमादरहित पुरुषोंको कोई भी अनिर्वचनीय (जो वचनसे न कहा जा सके अथवा जिसे योगी ही जान सकें) ऐसे काम करनेका प्रयत्न करना चाहिये कि जिसके करनेसे यह यमराज फिर कभी भी दिखाई न दे।

भावार्थ—पहिले दिखला चुके हैं कि संसारके समस्त पदार्थ अनित्य हैं नित्य वा सदा रहनेवाला कोई भी पदार्थ

नहीं है । यही समझकर बुद्धिमानोंको मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे कि अनित्य पदार्थोंके नाश होनेपर भी इसे कभी किसी प्रकारका दुःख प्राप्त न हो ।

भावार्थ—पहिले दिखला चुके हैं कि संसारके समस्त पदार्थ अनित्य हैं नित्य व सदा रहनेवाला कोई भी पदार्थ नहीं है यही समझकर बुद्धिमानोंको मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे कि अनित्य पदार्थोंके नाश होने पर भी इसे कभी किसी प्रकारका दुःख प्राप्त न हो ॥ ७ ॥

इति अनित्यानुप्रेक्षा ।

दत्तोदयेऽर्थनिचये हृदये स्वकार्ये
सर्वः समाहितमतिः पुरतः समास्ते ।
जाते त्वपायसमयेऽम्बुपतौ पतत्रेः
पोतादिव द्रुतवतः शरणं न तेऽस्ति ॥८॥

अर्थ—हे जीव ! देख जिस समय तेरे बहुतसे धनका उदय होता है—पुण्यके उदयसे बहुतसा धन होता है और अन्य जीवोंके हृदयमें उस धनसे कुछ काम लेनेकी इच्छा होती है उस समय संसारके सब प्राणी तेरे सामने सेवकके समान सावधान होकर बैठते हैं । अर्थात् सब तेरी सेवा करते हैं परन्तु जब मृत्युका समय आ उपस्थित होता है तब कोई भी प्राणी तेरी रक्षा नहीं कर सकता । जिस प्रकार

कि समुद्रमें वेगसे जाते हुए जहाजसे छूटे हुए पक्षीकी कोई रक्षा नहीं कर सकता।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी वेगसे जाते हुए जहाजसे कोई पक्षी उड जाय और जहाजके आगे निकल जाने पर वह छूट जाय तो उसके लिये फिर कोई शरण नहीं है उडते उडते थककर अन्तमें उसे वहीं उसी समुद्रमें डूबकर मरना पडता है उसी प्रकार मृत्युके आजाने पर इस जीवको भी मरना ही पडता है उस समय कोई भी इसकी रक्षा नहीं कर सकता।

बन्धुव्रजैः सुभटकोटिभिरात्सवर्गै-
मंत्रास्त्रतंत्रविधिभिः परिरक्ष्यमाणः।
जंतुर्बलादधिबलोऽपि कृतांतदूतै-
रानीयते यमवशाय वराक एकः॥ ९॥

अर्थ—चाहे अनेक कुटुम्बी लोग इसकी रक्षा करते हों, चाहे सहस्रभट लक्षभट कोटीभट आदि करोडों योद्धा इसकी रक्षा करते हों, चाहे पिता, मता, मन्त्री, पुरोहित, गुरु, उपाध्याय आदि बडे पुरुष इनकी रक्षा करते हों, और चाहे मन्त्र यन्त्र आदिकी विधिसे, अस्त्रोंसे तलवार आदि शस्त्रोंसे और घेर कर खडी हुई चारों प्रकारकी सेनासे इसकी रक्षा की जाती हो तथा चाहे यह जीव सब सेनासे भी अधिक

पराक्रमी हो तथापि यमराजके दूत इस असहाय-अकेले क्षुद्र जीवको यमराजके आधीन करनेकेलिये ले ही जाते हैं।

भावार्थ-यह जीव चाहे जितना वलवान हो और चाहे जितनी तरहसे इसकी रक्षा की जाती हो तथापि इसे यमराज के आधीन होना ही पडता है—मरना ही पडता है उस समय कोई भी इसकी रक्षा नहीं कर सकता।

संसीदतस्तव न जातु समस्ति शास्ता
त्वत्तः परः परमवाप्तसमग्रबोधेः।
तस्यां स्थिते त्वयि यतो दुरितोपताप।
सेनेयमेव सुविधे विधुराश्रया स्यात्॥१०॥

अर्थ-हे सम्यक् चरित्रको धारण करनेवाले आत्मा! तू जो इस संसारमें दुखी हो रहा है सो उस दुःखसे बचानेके लिये तेरी रक्षा करनेवाला वास्तवमें अन्य कोई नहीं है पूर्ण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चरित्रको धारण करनेवाला तू ही अपना रक्षक है। क्योंकि जिससमय तू सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयको धारण करेगा उससमय यह पाप और संतापोंकी सेना निराश्रय हो जायगी अर्थात् मर जायगी।

भावार्थ-यदि तुझे यमराजसे अपनी रक्षा करनी है-जन्म मरणके दुखोंसे बचना है तो तू रत्नत्रयको धारण कर। रत्नत्रयको धारण कर ही तू अपने आप अपनी रक्षा कर

सकता है और सब तरहके पाप और संतापोंसे बच सकता है अन्यथा नहीं।

इति अशरणानुप्रेक्षा।

——:०:——

कर्मार्पितं क्रमगतिः पुरुषः शरीर-
मेकं त्यजत्यपरमाभजते भवाब्धौ।
शैलूषयोषिदिव संसृतरेनमेषा
नाना विडम्बयति चित्रकरैः प्रपंचैः ॥ ११ ॥

अर्थ—संसाररूपी समुद्रमें यह जीव एक गतिको छोडकर दूसरी गति धारण करता है और दूसरीको छोड कर तीसरी गति धारण करता है इस प्रकार परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मोंके द्वारा प्राप्त हुए एक शरीरको छोडता है, दूसरा शरीर धारण करता है और फिर दूसरेको छोडकर तीसरा धारण करता है इस प्रकार यह जीव इस संसाररूपी समुद्रमें सदा परिभ्रमण किया करता है। यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला संसार, नटीके समान है जो समस्त लोगोंको चिंता और आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले अनेक भेषोंसे इस आत्माको विडंबित किया करता है।

भावार्थ—यह जीव इस संसाररूपी समुद्रमें सदा परिभ्रमण किया करता है और अनेक गतियोंमें अनेक प्रकारके

शरीर धारण किया करता है जिस प्रकार नटी अपने अनेक रूप बनाकर लोगोंको हँसाती है उसी प्रकार यह आत्मा अपने अनेक रूप बनाकर अपनी विडंबना किया करता है।

दैवाद्धनेष्वधिगतेषु पटुर्न कायः
कायेपटौ न पुनरायुरवाप्तवित्तं।
इत्थं परस्परहतात्मभिरात्मधर्मै—
र्लोकं सुदुःखयति जन्मकरः प्रबन्धः॥

अर्थ—कदाचित् शुभ कर्मके उदयसे धन प्राप्त हो जाय तो शरीर उत्तम वा नीरोग नहीं रहता, कदाचित् शुभ कर्मके उदयसे शरीर नीरोग मिलजाय तो धनसे परिपूर्ण आयुकी प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेके स्वभावको नाश करनेवाले अपने अपने स्वभावोंसे यह जन्म मरण उत्पन्न करनेवाला प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेशरूप चारों प्रकारका कर्मोंका बंध संसारी जीवोंको अत्यन्त दुःख दिया करता है।

भावार्थ—संसारी जीवोंको दुःख देनेवाला कर्मोंका बंध ही है, उसका स्वभाव ही दुःख देना है इसलिये वह अपने स्वभावोंसे सदा जीवोंको दुःख दिया करता है। पर उसका स्वभाव सदा एकसा नहीं रहता यदि किसी एक शुभ कर्मका उदय होता है तो उसी समय दूसरे अशुभ

कर्मका ऐसा उदय होता है जिससे उस शुभ कर्मका उदय भी बेकार हो जाता है जैसे शुभ कर्मके उदयसे धन तो मिल गया परन्तु अशुभ कर्मके उदयसे शरीर नीरोग नहीं रहनेके कारण उस धनसे सुख नहीं भोग सकता। यदि अन्य शुभ कर्मोंके उदयसे शरीर नीरोग होजाय तो इतने में आयु समाप्त हो जाती है या धन नष्ट हो जाता है अभिप्राय यह है कि किसी शुभ कर्मका उदय होते हुए भी अन्य अशुभ कर्मोंका उदय उसे बेकार बना देता है और इस प्रकार वह जीवोंको सदा दुःखी ही बनाये रखता है इसलिए संसारमें कोई भी जीव सुखी नहीं है सब दुःखी ही दुःखी हैं।

आस्तां भवान्तरविधौ सुविपर्ययोय-
मत्रैव जन्मनि नृणामधरोच्चभावः।
अल्पः पृथुः पृथुरपि क्षणतोऽल्प एव
स्वामी भवत्यनुचरः स च तत्पदार्हः॥

अर्थ—यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला विपर्यय दूसरा जन्म धारण करनेके कारण होता है यह बात तो अलग ही रहे ऐसा होने में कोई आश्चर्यकी बात नहीं है परन्तु मनुष्योंके ऊंच नीच भाव इसी जन्ममें बदल जाते हैं। आज जो दरिद्र है कल वही धनी हो जाता है। जो धनी है वह क्षणभरमें ही दरिद्री होजाता है। आज जो स्वामी है वह सेवक

हो जाता है और आज जो सेवक है वह दूसरे ही दिन स्वामी बन जाता है।

भावार्थ—यह ऊपर लिखा उलट पलट इसी जन्ममें प्रत्यक्ष दिखाई देती है फिर भला जन्मान्तरमें ऐसी उलट पलट होनेमें तो कोई आश्चर्य ही नहीं है।

वैचित्र्यमित्थमनुभूय भवाम्बुराशे—
रातंकबाडवविडम्बितजन्तुवारेः।
को नाम जन्मविषपादपपुष्पकल्पैः
स्वं मोहयेन्मृगदृशां कृतधीः कटाक्षैः॥ १४॥

अर्थ-शीघ्र ही प्राणोंको हरण करनेवाली व्याधियोंको आतंक कहते हैं इस संसारमें ऐसी अनेक व्याधियां भरी हुई हैं उन व्याधिरूपी बडवानल अग्निके द्वारा इस असार समुद्रमें भरा हुआ प्राणियोंका समूहरूपी जल बार बार कदर्थित किया जाता है अर्थात् उन व्याधियोंके द्वारा ये संसारके प्राणी बार बार दुःखी किये जाते हैं ऐसे इस संसाररूपी समुद्रमें ऊपर लिखे अनुसार आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अनेक प्रकारकी दशाओंका अनुभव करता हुआ ऐसा कौन विवेकी पुरुष है जो संसाररूपी विषवृक्षोंके पुष्पोंके समान स्त्रियोंके कटाक्षोंसे मोहित होजाय?

भावार्थ—यह संसार विषवृक्षके समान है क्योंकि जिस प्रकार विषवृक्ष दुःख देनेवाला है उसी प्रकार यह

संसार भी प्राणीमात्रको दुःख देनेवाला है। तथा हिरणके नेत्रोंके समान सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियोंके कटाक्ष उन विषवृक्षोंके फूलोंके समान हैं क्योंकि जिस प्रकार उन विषवृक्षके फूलोंको सूंघकर मनुष्य मोहित वा बेहोश होजाता है उसी प्रकार इन स्त्रियोंके कटाक्षोंसे भी यह मनुष्य मोहित होजाता है उस समय यह अपने आपको सर्वथा भूल जाता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि जिन्हें हेय उपादेयका ज्ञान है जो समझते हैं कि हमारे लिये यह हित है यह अहित है तथा जो बार बार सदा दुःख देनेवाले इस संसारका स्वरूप समझते हैं और इस संसारमें होनेवाली आत्माकी अनेक दुःखमयी अवस्थाओंका अनुभव करते हैं उन्हें स्त्रियोंके विषमय कटाक्षोंसे कभी मोहित नहीं होना चाहिये। उन्हें तो इस संसारसे अलग रहकर—इस संसारको छोड़कर अपने आत्माके निज स्वभावका चिंतवन करना चाहिये।

इति संसारानुप्रेक्षा।

——:०:——

एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम्।
अन्यो न जातु सुखदुःखविधौ सहायः
स्वाजीवनाय मिलितं विटपेटकं ते ॥ १५ ॥

अर्थ—हे जीव! तूने जो अपने आप कर्म किये हैं उनका सुख दुःखरूपी फल भोगनेके लिये तू अकेला ही अपने आप जन्म लेता है और अकेला ही अपने आप मरण करता है। तेरे इस सुख दुःखमें अन्य कोई सहायक नहीं होता इन कुटुंबियोंमेंसे भी तेरा कोई सहायी नहीं होता ये तो केवल अपनी आजीविकाकेलिये ही अपना जीवन बितानेकेलिये ही सब शत्रु मिलकर इकट्ठे हुये हैं। भावार्थ—स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते। स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते। अर्थात्—यह जीव अपने आप अच्छे बुरे कर्म करता है अपने आप उनका सुख दुःख फल भोगता है अपने आप संसारमें परिभ्रमण करता है और अपने आप उससे छूटकर मुक्त होता है। इस प्रकार यह जीव अपने आप कर्म करता है और अपने आप उनका फल भोगता है उनके फल भोगनेके लिये ही यह अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। इसमें कोई दूसरा सहायक नहीं होता। लोग कुटंबियोंको सहायक समझते हैं परन्तु वास्तवमें वे सहायक नहीं हैं वे तो इसके शत्रु हैं जो केवल अपना पेट भरनेके लिये इससे अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न कराते हैं यदि कुटम्ब न हो तो यह किसकेलिये पाप करे। भले ही यह पाप दूसरोंके लिये करे परन्तु उसका फल उसे अकेले ही भोगना पडता है क्योंकि वह पाप उसने अकेले ही तो किया है।

वाह्यः परिग्रहविधिस्तव दूरमास्तां
देहोयमेति न समं सहसंभवोऽपि।
किं ताम्यसि त्वमनिशं क्षणदृष्टनष्टै-
र्दारात्मजद्रविणमन्दिरमोहपाशैः ॥१६॥

अर्थ—हे जीव ! स्त्री पुत्र मित्र आदि तेरे बाहरके पदार्थ तो दूर ही रहो यह तेरे साथ उत्पन्न होनेवाला शरीर भी तेरे साथ नहीं जाता। इसलिए हे जीव ! क्षणभरमें दिखाई देनेवाले और दूसरे ही क्षणमें नष्ट होनेवाले इन स्त्री, पुत्र, धन, घर आदिके मोहरूपी बन्धनोंसे तू अपने आत्माको निरन्तर क्यों बांधता रहता है। भावार्थ—स्त्री पुत्र धन घर आदि वाह्य पदार्थोंमें मोह वा ममत्व करनेसे केवल कर्मोंका बन्ध होता है क्योंकि इनमेंसे कोई साथ तो जाता नहीं यहां तक कि साथ उत्पन्न होनेवाला शरीर भी साथ नहीं जाता इस जीवने जैसा पुण्य पाप किया है उसके अनुसार इसे अकेला ही जाना पड़ता है अकेला ही सुख दुःख भोगना पडता है इसलिये वाह्य पदार्थोंसे ममत्व करनेमें सिवाय हानि के कोई किसी प्रकारका लाभ नहीं है। अतएव जीवोंको चाहिए कि धीरे २ अभ्यास करते हुए बाहरके सब पदार्थोंका ममत्व छोड दें, केवल अपने आत्मासे ममत्व करे जिससे अपना कल्याण हो।

संशोच्य शोकविवशो दिवसं तमेकं-
मन्येद्युरादरपरः स्वजनस्तवार्थे।

कायोपि भस्म भवति प्रचयाच्चिताग्नेः
संसारयन्त्रघटिकाघटने त्वमेकः॥ १७॥

अर्थ—हे जीव! तू विचार तो कर कि जिस दिन तू मरता है केवल उसी दिन शोकसे विवश होकर तेरे कुटम्बके लोग शोक करते हैं दूसरे दिन तो वे तेरा धन बाटने में लग जाते हैं और यह तेरा शरीर जलती हुई चिताकी अग्निमें भस्म हो जाता है इसप्रकार सब लोग तुझसे अलग हो जाते हैं इस संसाररूपी अरहटकी घडीको चलानेके लिए तुझे अकेला ही जुतना पडता है। भावार्थ—तेरे मरनेके पीछे कुटुंबी लोग जो शोक करते हैं वह तेरे लिए नहीं करते, किंतु तेरे मरनेसे उनका स्वार्थ नष्ट होता है इसलिये शोक करते हैं यदि वह शोक तेरे लिये होता तो कुछ देरतक तो ठहरता परन्तु वह तो दूसरे दिन या उसी दिन तेरा धन बांटनेमें परिणत हो जाता है। इसलिये ऐसे कुटुम्बके लिये तो मोह करना व्यर्थ ही है। अब रहा शरीर सो भी अग्निमें जल जाता है इसलिये इसके लिये भी मोह करना व्यर्थ है। इनके मोह करनेसे ही तुझे इस संसारमें परिभ्रमण करना पडता है। और अकेले ही अनेक प्रकारके दुःख भोगने पडते हैं। इसलिये हे जीव! तू इन सबसे मोह छोडकर आत्मामें लीन हो जिससे तेरा संसारका दुःख दूर हो और तुझे आत्मसुखकी प्राप्ति हो।

एष स्वयं तमचलैर्ननु कर्मजालै-
र्लूतेव वेष्टयति नष्टमतिः स्वमेकः।
पुण्यात्पुनः प्रशमतंतुकृतावलम्ब-
स्तद्धाम धावति विधूतसमस्तबाधम् ॥१८॥

अर्थ—यह निर्बुद्धि विवेकरहित जीव मकडीके समान अकेला ही अपने आप अपने आत्माको वज्रलेप के समान कर्मोंके समूहोंसे बांध लेता है। तदनन्तर किसी समय पुण्य कर्मके उदयसे कर्मोंके उपशम होनेरूप तंतुओंका सहारा लेकर समस्त बाधाओंसे रहित ऐसे मोक्ष स्थानमें जा विराजमान होता है। भावार्थ—जिसप्रकार मकडी अपने आप अपनेको बांध लेती है उसीप्रकार हेयोपादेय बुद्धिसे रहित यह आत्मा भी अपने आप कर्मोंके समूहसे बन्ध जाता है और अनेक प्रकारके दुःख भोगता रहता है। कदाचित् पुण्य कर्मोंका उदय होनेसे कुछ कर्मोंका उपशम होता है जिससे इसका स्वभाव प्रगट होता है और निज स्वभाव प्रगट होनेसे हेयोपादेयका ज्ञान वा स्वपर विवेक प्रगट होता है। उसीसे यह जीव सब तरहके दुःखोंसे रहित ऐसे मोक्ष स्थानमें जा विराजमान होता है। इसलिये इस जीवको सदा पुण्य कर्म करते रहना चाहिये जिससे अशुभ कर्मोंका उपशम वा नाश हो, स्वपर विवेक प्रगट हो और पूर्ण सुखमय मोक्ष प्राप्त हो।

इति एकत्वानुप्रेक्षा।

देहात्मकोऽहमिति चेतसि माकृथास्त्वं
त्वत्तो यतोऽस्य वपुषः परमो विवेकः।
त्वं धर्मशर्मवसतिः परितोऽवसायः
कायः पुनर्जडतया गतधीनिकायः ॥१९॥

अर्थ—हे जीव! हे आत्मा! तू अपने हृदयमें ऐसा संकल्प मत कर कि मैं देहरूप हूं शरीरमय हूं क्योंकि तुझ में और इस शरीरमें तो बडा भारी अन्तर है यह शरीर तो तुझसे सर्वथा अलग है और इसका भी कारण यह है कि तू अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, और अनन्त सुख रूप चैतन्य धर्मोंका तथा परमानन्दरूप आत्मसुखका निवास स्थान है और सर्वांग चेतना स्वभाव है परन्तु यह शरीर जड होनेके कारण ज्ञान दर्शनसे रहित अचेतन है। भावार्थ हे आत्मन्! तू चैतन्य स्वरूप है और शरीर जड है अचेतन है इसलिये तू शरीरसे सर्वथा भिन्न है यही भावना सर्वदा करता रह।

आसीदति त्वयि सति प्रतनोति कायः
क्रांते तिरोभवति भूपवनादिरूपैः।
भूतात्मकस्य मृतवन्न सुखादिभाव-
स्तस्मात्कृतौ करणतः पृथगेव जीवः ॥२०॥

अर्थ—हे आत्मन्! तेरे रहते हुए ही यह शरीर स्थिर

रहता है और तेरे रहते हुये ही बढता है। जब तू इसमेंसे निकल जाता है तो फिर उसी समय यह शरीर पृथ्वी जल अग्नि वायु रूपमें परिणत हो जाता है। यह शरीर पृथ्वी जल अग्नि और वायुरूप है इसकारण मरे हुए शरीरके समान इसे सुख दुख आदिका अनुभव कभी नहीं होता है यह अनुभव केवल आत्माको ही होता है इसलिये मानना चाहिये कि यह पुण्यवान आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न ही है। भावार्थ—जिसप्रकार मृतक शरीरको सुख दुखका अनुभव नहीं होता क्योंकि वह जड है उसमेंसे आत्मा निकल गया है इससे सिद्ध होता है कि सुख दुखका अनुभव केवल आत्माको ही होता है शरीरको नहीं। यदि शरीरको सुख दुःख होता है तो मृतक शरीरको भी होना चाहिये परन्तु मृतक शरीरको होता नहीं इसलिये वह अनुभव केवल आत्माको ही हो होता है। इसप्रकार सिद्ध होता है कि आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है! आत्मा चेतनरूप है ज्ञान दर्शनमय है और शरीर जड है। इससे भी आत्माकी शरीरसे बिल्कुल भिन्नता सिद्ध होती है।

सानन्दमव्ययमनादिमनन्तशक्ति-
मुद्योतिनं निरुपलेपगुणं प्रकृत्या।
कृत्वा जडाश्रयमिमं पुरुषं समृद्धाः
सन्तापयन्ति रसवद्दुरिताग्नयोऽमी ॥२१॥

अर्थ—यह स्वानुभूतिसे प्रत्यक्ष होनेवाला आत्मा अनन्त सुखसे विराजमान है इसकी कभी मृत्यु वा नाश नहीं होता, यह आदिरहित है अनादिसे ज्योंका त्यों चला आ रहा है, केवलज्ञान केवल दर्शनके द्वारा यह अनन्त पदार्थोंके स्वरूपको ग्रहण करता इसलिये यह अनन्त शक्तिवाला है, लोक अलोक दोनोंके स्वरूपको प्रकाशित करने वाला है और निश्चयनयसे कर्ममल कलंकसे रहित है ऐसे इस आत्मा को पारेके समान शरीर आश्रय (पारेके पक्षमें, गन्धक वा सीसाका आश्रय लेकर) बनाकर यह जलती हुई पापरूप वा कर्मरूप अग्नि सदा सन्तप्त करती रहती है। भावार्थ— जिसप्रकार अग्नि पारेको गन्धक वा सीसामें मिलाकर संतप्त करती है वह अकेले पारेको नहीं जला सकती उसीप्रकार यह कर्मरूपी अग्नि शरीरसहित आत्माको जलाती है वह अशरीर आत्माको कभी नहीं जला सकती इससे सिद्ध होता है कि यह आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है और इस आत्मा को दुःख देनेवाला यह शरीर ही है। यदि शरीर न हो तो यह आत्मा कभी दुखी नहीं हो सकता इसलिये इस आत्माको सबसे भिन्न समझकर सबसे ममत्व छोड देना चाहिये।

कर्मास्रवानुभवनात्पुरुषः परोऽपि
प्राप्नोति पातमशुभासु भवावनीषु।
तस्मात्तयोः परमभेदविदो विदग्धाः

श्रेयस्तदा दधतु यत्र न जन्मयोगः ॥२२॥

अर्थ—यद्यपि यह आत्मा सबसे उत्तम है तथापि कर्म-रूपी मद्यके सेवन करनेसे चांडालादिक अत्यंत अपवित्र और पापरूप अशुभ योनियोंमें गिर पडता है। इसलिये शरीर और आत्मामें अत्यन्त भेद समझनेवाले आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न माननेवाले और हेय उपादेयका ज्ञान रखने वाले चतुर पुरुषोंको अपनी आत्माका ऐसा कल्याण करना चाहिये कि जिससे फिर कभी भी जन्म न धारण करना पडे। भावार्थ—जिसप्रकार उत्तम पुरुष भी मद्यके सेवन करनेसे अपवित्र और अशुभ स्थानोंमें गिरते पडते रहते हैं उसी प्रकार यह आत्मा सर्वोत्तम होनेपर भी केवल कर्मोंके संबंधसे चांडाल वा नरक आदि पापरूप अशुभ योनियोंमें शरीर धारण करता रहता है। लिखा भी है—"कर्मकोद्रवरसेन हि मत्तः किंकिमेत्यशुभ धाम न जीवः" अर्थात् कर्मरूपी कोदोंके रससे उन्मत्त हुआ यह जीव कौन कौनसे अशुभ स्थानोंमें उत्पन्न नहीं होता है, भावार्थ—उसे सब ही अशुभ स्थानोंमें उत्पन्न होना पडता है। इसलिये आत्माको शरीर और कर्म सबसे भिन्न समझना चाहिये। लिखा भी है "क्षीर-नीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः। भेदो यदि ततोऽन्यत्र कल-त्रादिषु का कथा" अर्थात् यद्यपि यह आत्मा और शरीर दूध पानीके समान मिलकर एकरूप हो रहा है तथापि वह शरीर से सर्वथा भिन्न है जब वह अपने साथ मिलकर एकरूप होने

वाले शरीरसे ही भिन्न है तब फिर वह आत्मा सर्वथा जुदे दिखाई देनेवाले स्त्री पुत्र आदिकसे तो भिन्न है ही इसमें कोई संदेह नहीं है। यही समझकर सबसे ममत्व छोड तपश्चरण करना चाहिये जिससे कि सब कर्म नष्ट होकर आत्मा मुक्त हो जाय और फिर इसे जन्म मरणके दुःख कभी न भोगने पडें ॥ २२ ॥

इति पृथक्त्वानुप्रेक्षा।

आधीयते यदिह वस्तु गुणाय कांतं
काये तदेव मुहुरेत्यपवित्रभावम्।
छायाप्रतारितमतिर्मलरंध्रबन्धं
किं जीव ! लालयसि भंगुरमेतदंगम् ॥ २३ ॥

अर्थ—हे जीव ! इस शरीरको सुगंधित वा सुशोभित बनानेके लिये इसपर कपूर चंदन केशर आदि जो जो अत्यंत मनोहर पदार्थ लगाये जाते हैं वे पदार्थ उसीसमय अत्यंत अपवित्र हो जाते हैं यह शरीर इतना अपवित्र है फिर भी तेरी बुद्धि हलके गोरे वा श्याम चमडेको देखकर ठगाईमें आ जाती है इसीलिये तो तू अपने आप अवश्य नष्ट होने वाले और मल मूत्र आदि अत्यन्त अपवित्र पदार्थोंके निकलनेकी मोरियोंका समुदायरूप इस शरीरको पालन पोषण करता है परन्तु इसका पालन पोषण करना सरासर तेरी

भूल है । भावार्थ—यह शरीर इतना अपवित्र है कि चन्दन केशर आदि अत्यंत पवित्र पदार्थ भी इसके सम्बंधसे अपवित्र अत्यंत अपवित्र हो जाते हैं इसके सिवाय यह मल मूत्र आदिकी मोरियोंका समुदाय है इसके नाक कान मुंह आदि उत्तम माने जानेवाले स्थानोंसे भी कफ आदि अपवित्र पदार्थ ही निकलते हैं यहां तककि इसके रोम रोममेंसे अपवित्र पसीना निकलता है और फिर भी यह ठहरता नहीं अपने आप नष्ट हो जाता है फिर भी यह जीव इससे ममत्व करता है इसका पालन पोषण करता है यह बडे आश्चर्यकी बात है ॥ २३ ॥

योषिद्भिरादृतकरं कृतमंडनश्री-
यैः कामचामररुचिस्तव केशपाशः ।
सोऽयं त्वयि श्रवणगोचरतां प्रयाते
प्रेतावनीषु वनवायसवासगोऽभूत् ॥२४॥

अर्थ-हे जीव ! देख तो यह जो तेरा केशोंका समूह काम देवके चमरोंकी शोभा धारण करता है और कोमल करकमलों-वाली सुंदर स्त्रियोंने बडे आदरके साथ सुगंधित तेल लगा कर तथा चम्पा चमेली वेला आदिके फूलोंसे सजाकर जिस की शोभा बढाई है वही केशोंका समूह तेरे मर जानेपर श्मशानमें पडा हुआ काले कौओंका भोजन बन जाता है । भावार्थ—इस शरीरकी यही दशा है, जबतक इससे ममत्व

है तब तक इसके प्रत्येक अंगकी शोभा बढाई जाती है परन्तु मरनेके बाद ही यह सडने लगता है फिर यह क्षण भर भी पहिलेकी अवस्थामें नहीं ठहर सकता। आज जो सुन्दर जान पडता है कल वही मरनेपर भयानक दिखाई देता है आज जिसे वस्त्राभूषणोंसे सजाते हैं और देख देख प्रसन्न होते हैं कल मरनेपर वही जला दिया जाता है गाड दिया जाता है सड जाता है या उसे चील कौए खा जाते हैं, शरीरका यह स्वभाव ही है वह कभी छूट नहीं सकता ॥ २४ ॥

अन्तर्वहिर्यदि भवेद्वपुषः शरीरं
दैवात्तदानुभवनं ननु दूरमास्ताम्।
कौतूहलादपि यदीक्षितुमुत्सहेत
कुर्यात्तदाभिरतिमत्र भवाञ्शरीरे ॥२५॥

अर्थ—हे जीव! देख तो (जिस शरीर पर तू रीझता है या उसका पालन पोषण करता है) उस शरीर का भीतरी भाग यदि दैवयोगसे भी अकस्मात् बाहर हो जाय तो फिर उसका अनुभव करना, उसपर रीझना तो बहुत दूर रहा यदि उससमय उसपर कौतुहलसे भी दृष्टि पड जाय तो उसीसमय उसी शरीरके सामने तेरा मरण हो जाय। भावार्थ—इस शरीरके भीतर अत्यन्त घृणित पदार्थ भरे हुए हैं वे सब बाहरके चमडेसे ढके हुए हैं यदि शरीरका भाग उलट दिया जाय, चमडा भीतर कर दिया जाय तो

फिर उसकी ओर कोई आंख उठाकर भी नहीं देख सकता शरीर ऐसाही अपवित्र और घृणितस्वभाव है ॥ २५ ॥

तस्मान्निसर्गमलिनादपि लब्धतत्त्वाः
कीनाशकेलिमनवाप्तधियोऽचिराय।
कायादतः किमपि तत्फलमर्जयन्तु
यस्मादनन्तसुखसस्यविभूतिरेषा ॥ २६ ॥

अर्थ—इसलिये हेय उपादेयका विवेक रखनेवाले पुरुषोंको मृत्यु होनेके पहिले पहिले बहुत शीघ्र इस स्वभाव से ही अपवित्र और घृणित शरीरसे भी कोई ऐसा अनिर्वचनीय लाभ उठालेना चाहिये जिससे कि अनन्त सुखरूपी ऐश्वर्य प्राप्त हो जाय। भावार्थ—यह शरीर स्वभावसे ही अपवित्र और घृणित तो है ही तिसपर भी यह अपने आप अवश्य ही नष्ट होजाता है इसलिये बुद्धिमानोंको चाहिये कि ऐसे इस शरीरको पाकर तपश्चरण करे जिससे मोक्षकी प्राप्ति हो और फिर कभी भी ऐसा अपवित्र और घृणित शरीर धारण न करना पड़े ॥ २६ ॥

इति अशुचित्वानुप्रेक्षा।

———:०:———

अन्तःकषायकलुषोऽशुभयोगसंगा-
त्कर्माण्युपार्जयसि बन्धनिबन्धनानि।

रज्जू: करेणुवशगः करटी यथैता-
स्त्वं जीव मुंच तादिमानि दुरीहितानि ॥

अर्थ—हे जीव! देख! जिस प्रकार हाथी हथिनीके साथ लंपटता धारण कर राजा महाराजाओंकी बडी बडी जंजीरों से जकडा जाता है उसीप्रकार क्रोध मान माया आदि लोभ कषायोंसे अंतरंगमें मलिन होकर तू भी मन वचन कायके अशुभ योगोंके संबंधसे प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेशरूप बंधके कारण ऐसे कर्मोंको हर समय उत्पन्न करता रहता है और उनसे बंधता रहता है इसलिये हे जीव! अब तू इन पाप रूप कर्मोंको छोड। भावार्थ—कषाय और योगोंके द्वारा इस जीवके प्रत्येक समयमें कर्म आते रहते हैं जो कि अत्यन्त दुखके कारण हैं इसलिये आते हुए कर्मोंको रोकना वा मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय योग आदि आस्रवके कारणोंका हटाना ही इस जीवको कल्याणकारी है। इनके हटाने से ही यह जीव अत्यन्त सुख प्राप्त कर सकता है।

संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीयं
चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन्।
तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचनापि
पक्षे परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य ॥ २९ ॥

अर्थ—हे जीव! "मैं यों करूंगा यों करूंगा इस

प्रकार करनेसे मुझे यह मिल जायगा वह मिल जायगा" इसप्रकारके संकल्परूपी कल्पवृक्षोंके आश्रयसे तेरा हृदय इस मनोरथरूपी महासागरमें डूब रहा है। उसमें गोते खा रहा है तू चाहता है कि जो मैं संकल्प करता हूं वह सब मुझे मिल जायगा परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो उस संकल्पके अनुसार धन धान्य स्त्री पुत्र आदि कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। हां! उस संकल्पसे पापोंका आश्रव अवश्य होता है।

भावार्थ—इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति तो पुण्य कर्मोंके उदयके आधीन है। वह संकल्प करने मात्रसे कभी नहीं मिल सकती। ऐसे ऐसे संकल्प करनेसे तो केवल पाप कर्मोंका आश्रव होता है जो कि अंत में महादुख देता है इसलिये ऐसे संकल्प करना सर्वथा छोड देना चाहिये। लिखा भी है—

दट्ठूण परकलत्तं रागं मा वहसि हिययमज्झम्मि।
पावेण पाव लिप्पसि पावं मावहसि त्वं च सुद्धो हि ॥ १ ॥

अर्थात्—परस्त्रीको देखकर तू अपने हृदयमें राग मत कर क्यों क पाप करनेसे तू पापोंसे लिप्त हो जायगा परन्तु निश्चय नयसे तू शुद्ध है इसलिये तू पाप मत कर।

सेर्ष्यं विभूतिषु मनीषितसंश्रयाणां
चक्षुर्भवत्तव निजार्त्तिषु मोघवाञ्छम्।
पापागमाय परमेव भवेद्विमूढ
कामात्कुतः सुकृतदूरवतां हि तानि ॥२१॥

अर्थ— हे जीव ! अपनी इच्छानुसार स्वर्गादिके सुख देनेवाले ऐश्वर्योंमें ईर्ष्या रखनेवाला और सदा फलकी इच्छा रखनेवाला यह तेरा हृदय अनेक पदार्थोंकी आकांक्षाओंमें लगा रहता है परन्तु हृदयके इसप्रकार आकांक्षाओंमें लगे रहनेसे केवल पापोंका ही आगमन होता है। अरे मूर्ख ! विचार तो कर कि पुण्यहीन पुरुषोंके केवल इच्छा करने मात्रसे सुख किस प्रकार मिल सकता है ? भावार्थ–सुखकी प्राप्ति पुण्य कर्मके उदयसे होती है, इच्छा करनेसे नहीं। यदि पुण्य कर्मका उदय है तो विना इच्छाओंके भी सुख की सामग्री मिल जाती है और यदि पुण्य कर्मका उदय नहीं है तो वह लाख इच्छाएं करनेपर भी प्राप्त नहीं होती किंतु विना पुण्योदयके केवल इच्छा करनेमात्रसे पाप कर्मोंका आश्रव ही होता है। इसलिये इच्छायें करना दुखका कारण है। ऐसी इच्छाओंको रोकना ही आत्माका कल्याण करनेवाला है ॥ २९ ॥

दौर्विध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तभुक्ते-
श्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितोत्तरंगम् ।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे
कौतस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः ॥३०॥

अर्थ–हे जीव ! निर्धनताके कारण तेरा हृदय भस्म हो रहा है और इसीलिये उसमें अनेक उत्कट मनोरथ रूपी

लहरें सदा लहरें मारा करती हैं और वह संकल्पपूर्वक भोगोपभोगोंके ग्रहण करनेकी सदा इच्छा किया करता है परन्तु जिसप्रकार वह भोगोपभोगोंकी इच्छामें लगा रहता है उसी प्रकार यदि वह परमात्मारूपी ज्ञान ज्योतिके स्थानमें लगे रहनेकी चेष्टा करे तो फिर तेरा जन्म किसी प्रकार भी व्यर्थ नहीं हो सकता। फिर तू अपना जन्म सर्वथा सफल ही समझ। भावार्थ—निर्धनताके कारण अनेक इच्छाएं उत्पन्न होती रहती हैं और उन इच्छाओंसे अन्य अनेक पाप कर्मोंका आस्रव होता रहता है इसप्रकार यह जीव जिस सुखकी सामग्रीको चाहता है वह उससे और दूर हटती जाती है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि भाई! इच्छा करनेसे कोई लाभ नहीं। यदि तुझे अपना हृदय लगाना ही है तो इच्छाओंमें वा भोगोपभोगकी सामग्रीमें मत लगा, तू उसे परमात्मामें लगा। अपना हृदय परमात्मामें लगानेसे पुण्य कर्मकी प्राप्ति होगी, पुण्यकर्मके उदयसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होगी और रत्नत्रयसे अनन्त सुख प्राप्त होगा। इसप्रकार करनेसे यह तेरा जन्म सर्वथा सफल समझा जायगा।

इति आस्रवानुप्रेक्षा

—:०:—

आगच्छतोऽभिनवकार्मणरेणुराशे-
र्जीवः करोति यदवस्खलनं वितन्द्रः।

सत्तत्त्वचामरधरैः प्रणिधानहस्तैः
संतो विदुस्तमिह संवरमात्मनीनम् ॥३१॥

अर्थ—जिसप्रकार अपने घरमें कोई आता है और उसे हम रोकना चाहते हैं तो उसे हाथ हिलाकर रोक देते हैं उसीप्रकार नवीन कर्म बंधनेकेलिये जो प्रति समय पुद्गल परमाणुओंका समूह आता है उसे यह आत्मा प्रमादरहित सावधान होकर आत्मतत्त्वरूपी चमरको धारण करनेवाले शुभ ध्यान रूपी हाथोंसे जो रोक देता है, नहीं आने देता है उसे सज्जन लोग संवर कहते हैं। इस संसारमें यह संवर ही आत्माका हित करनेवाला है। भावार्थ—आते हुए कर्मोंको रोकना ही संवर है। इस जीवके प्रति समयमें कर्म आते रहते हैं जोकि अनेक प्रकारके दुःख दिया करते हैं वे कर्म मिथ्यात्व अविरति आदि कारणोंसे ही आते हैं और गुप्ति समिति आदि शुभ ध्यानसे रुक जाते हैं। जब यह आत्मा गुप्ति समिति आदि शुभ ध्यानसे उन कर्मोंको रोक देता है, नहीं आने देता तब वह उनके दुःखरूप फलोंसे भी बच जाता है इस प्रकार भी संवरसे आत्माका हित होता है। तथा नवीन कर्म जब आनेसे रुक जायगे और पहिले के कर्म प्रतिसमय निर्जरित होते रहेंगे तो किसी न किसी दिन अवश्य सब कर्म नष्ट हो जायगे और फिर यह आत्मा अनन्त सुखी होकर मोक्षमें जा विराजमान होगा इसप्रकार से भी संवर ही आत्माका हितकारी है।

यस्त्वां विचिन्तयति संचरते विचारै-
श्चार्वी चिनोति परिमुंचति चंडभावं।
चेतो निकुंचति समंचति वृत्तमुच्चैः
स क्षेत्रनाथ विरुणद्धि कृती रजांसि ॥३१॥

अर्थ—हे आत्मन! जो आत्मा अपने आत्माका ध्यान करता है, जो आत्मा अपने भेद ज्ञानके द्वारा अपने ही आत्मामें विहार करता है, जो आत्मा अपनी ज्ञानस्वरूप बुद्धिको फैलाता है, जो आत्मा क्रोधरूप उग्रभावोंका त्याग कर देता है, जो आत्मा विषय कषायोंमें जाते हुये मनको रोक लेता है और जो आत्मा उत्तम चारित्र धारण करता है वही पुण्यवान आत्मा आते हुए पाप कर्मोंको रोक देता है, भावार्थ—आत्माका ध्यान करना कषायोंका त्याग करना, स्वात्मानुभूतिको प्रकाशित कर उसे शुद्ध करना और उत्तम चारित्र धारण करना ही संवरके कारण हैं। इन्हींसे आते हुए कर्म रुकते हैं।

नीरन्ध्रसंधिरवधीरितनीरपूरः
पोतः सरित्पतिमुपैति यथानपायः।
जीवस्तथा क्षपितपूर्वतमः प्रतानः
क्षीणास्रवश्च परमं पदमाश्रयेत ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार जिस जहाजमें कोई छिद्र नहीं है

पानी आनेका कोई मार्ग नहीं है और जिसका पहिले आया हुआ पानी सब निकाल दिया गया है ऐसा जहाज विना किसी विघ्नके समुद्रके पार हो जाता है उसीप्रकार संवर धारण करनेके कारण जिसके नवीन कर्म आते नहीं और पहिलेके कर्मोंका समूह सब जिसने नष्ट कर दिया है ऐसा यह आत्मा मोक्षरूप परम पदमें जा विराजमान होता है। भावार्थ—संवर ही मोक्षका कारण है क्योंकि संवर धारण करनेसे नवीन कर्म तो आवेंगे नहीं और पहिलेके विद्यमान कर्म प्रतिक्षण निर्जरित होनेसे नष्ट हो ही जांयगे या तपश्चरणादिके द्वारा शीघ्र नष्ट कर दिये जांयगे इसप्रकार केवल संवर धारण करनेसे ही यह आत्मा शीघ्र मुक्त हो जायगा।

इति संवरानुप्रेक्षा ॥ ८ ॥

———:०:———

मध्याधरोर्ध्वरचनः पवनत्रयान्त-
स्तुल्यः स्थितेन जघनस्थकरेण पुंसा।
एकस्थितिस्तव निकेतनमेष लोक-
स्तस्यान्त्यकोणजठराऽग्रनिषण्णमोक्षः ॥३४॥

अर्थ—हे जीव! यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला लोक घनवात घनोदधिवात और तनुवात तीन प्रकारकी वायुओंसे घिरा हुआ है जिसप्रकार चारों ओरकी वायुके भीतर कोई पदार्थ पड जानेपर वह ज्योंका त्यों स्थिर बना रहता

है, हिल नहीं सकता उसीप्रकार साठ साठ हजार योजन मोटी ऊपर लिखी तीनों प्रकारकी वायु इस लोकके चारों ओर लोकाकाशमें ही निराधार विद्यमान हैं क्योंकि वायु आकाशमें निराधार रहती ही है उसी वायुके आधार पर यह लोक स्थिर है। इधर उधर कहीं भी हिल नहीं सकता ! क्योंकि वायु चारों ओर है उसी लोकके तीन भाग हैं मनुष्य-लोक वा तिर्यग्लोकको मध्य लोक कहते हैं, स्वर्ग लोकको ऊर्ध्व लोक कहते हैं और नीचेकी नरकोंकी सात पृथिवियों को अधोलोक कहते हैं इसकी अनादि कालकी ऐसी ही रचना है। जिसप्रकार कोई पुरुष कमरपर दोनों हाथ रख कर पैर फैलाकर खडा हो उस समय जैसा उसका आकार होता है ठीक वैसा ही आकार इस लोकका है। यह लोक एक महा स्कन्ध है, इसका सब मध्यभाग जीवोंसे भरा हुआ है अथवा इसका त्रस नाडीरूप मध्यभाग त्रस जीवोंसे भरा हुआ है और इसके ऊपरी भागपर पैंतालीस लाख योजन प्रमाण मोक्षस्थान विराजमान है। हे जीव ! ऐसा यह लोक तेरा निवासस्थान है। यही तेरा घर है। भावार्थ—इसी लोकाकाशमें तू अनादि कालसे परिभ्रमण करता चला आया है और जब तक मोक्ष प्राप्त न होगी तबतक बराबर इसीमें परिभ्रमण करता रहेगा। इसलिये उस दुःखरूप परि-भ्रमणसे बचनेके लिये शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय करना चाहिये ॥ ३४ ॥

कर्ता न तावदिह कोऽपि धियेच्छया वा
दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि स प्रसंगः।
कार्यं किमत्र सदनादिषु तक्षकाद्यै-
राहृत्य चेत्त्रिभुवनं पुरुषः करोति॥२५॥

अर्थ— हे जीव! देख! इच्छा वा बुद्धिपूर्वक करनेवाला इस जगतका कोई कर्ता नहीं है। यदि कदाचित् बुद्धिपूर्वक इस जगतका कोई कर्ता होता तो इच्छा होते ही तृणादिकके रहते हुए चटाई अपने आप बन जानी चाहिये अथवा मकान आदिके बनवानेमें शिलावट राज आदिकी भी आवश्यकता नहीं होनी चाहिये क्योंकि जो कोई पुरुष सामग्री इकट्ठी कर तीनों लोकोंको बनाता है उसके लिये मकान आदि बनाना कौनसी बडी बात है।

भावार्थ—इस जगतको इच्छापूर्वक किसीने नहीं बनाया है यदि किसीके इच्छा करनेमात्रसे ही जगत बन जाय तो इच्छा करनेमात्रसे हमारा हार वा घर बन जाना चाहिये जिसने इच्छा करनेमात्रसे जगतको बना डाला है उसके लिये हार वा मकान बनाना कौनसा कठिन काम है। परन्तु हार वा मकान अपने आप बनते नहीं इसलिये जगतका कर्ता मानना भी मिथ्या ही है। यह जगत अनादि अनंत है सदासे चला आया है और अनंत काल तक बना रहेगा। कोई भी नवीन पदार्थ विना पहिलेकी सामग्रीके नहीं बनता तथा

पहिलेकी सामग्री भी किसी दूसरी सामग्रीसे विगड़ कर बनी होगी इसप्रकार भी यह जगत् अनादि कालका ही सिद्ध होता है। इसलिये इसका कर्ता कोई नहीं है॥ ३५॥

त्वं कल्मषावृतमतिर्निरये तिरश्चि
पुण्योचितो दिवि नृषु द्वयकर्मयोगात्।
इत्थं निषीदसि जगत्त्रयमंदिरेऽस्मिन्
स्वैरं प्रचारविधये तव लोक एषः॥ ३६॥

अर्थ—हे जीव! जब तेरी बुद्धि पाप कर्मोंसे घिरी रहती है अर्थात् पाप कर्मका अधिक उदय होता है तब तुझे नरक वा तिर्यच गतिमें रहना पडता है; जब तेरे पुण्य कर्मका उदय होता है तब तू सर्वार्थसिद्धि तक स्वर्गोंमें उत्पन्न होता है अथवा वहां निवास करता है और जब पाप पुण्य दोनों कर्मोंका उदय होता है तब तुझे मनुष्य गतिमें निवास करना पडता है। इसप्रकार तुझे इन तीनों लोकोंमें निवास करना पडता है। यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला लोक इसप्रकार तेरी इच्छानुसार तेरे परिभ्रमण करनेके ही काममें आता है। भावार्थ—बहुतसे लोग नरक स्वर्ग नहीं मानते। परन्तु उन्हे यह विचार करना चाहिये इस संसारमें पुण्य पाप तो सबको मानना पडता है क्योंकि अच्छे बुरे कर्मोंका फल ही पुण्य पाप है उस पुण्य पापकी चार अवस्थायें हो जाती हैं एक पुण्यरूप, दूसरा पापरूप, तीसरा

पुण्यपापका मिलाप जिसमें पुण्यकी मात्रा कुछ अधिक हो और चौथा पापपुण्यका मिलाप जिसमें पापकी मात्रा अधिक हो। इन चारोंका फल भोगनेके लिये ही चार गतियां हैं, पुण्यका फल स्वर्गमें मिलता है, पापका फल नरकमें मिलता है, पुण्यपापका फल मनुष्य गतिमें भोगना पडता है और पापपुण्यका फल तिर्यंच गतिमें भोगना पडता है। इस श्लोकमें जो तिर्यंच गतिको पापका फल बतलाया है वह निगोदादिककी अपेक्षासे बतलाया है। इसप्रकार स्वर्ग नरक माने विना किसीका काम चल नहिं सकता। क्योंकि ऊपर लिखे अनुसार इस जीवको चारो गतियोंमें परिभ्रमण करना ही पडता है। यही इस श्लोकमें बतलाया है॥३६॥

अत्रास्ति जीव! न च किंचिदभुक्तमुक्तं
स्थानं त्वया निखिलतः परिशीलनेन।
तत्केवलं विगलिताखिलकर्मजालं
स्पृष्टं कुतूहलधियापि न जातु धाम॥३७॥

अर्थ—हे जीव! इस लोकमें ऐसा कोई स्थान नहीं है जो तूने अनन्त बार परिभ्रमणके द्वारा विना भोगे ही छोड दिया हो। अर्थात् इसलोकमें कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां तेने अनंत बार जन्म मरण धारण न किया हो इसके प्रत्येक प्रदेशपर तेने अनंतबार जन्म मरण धारण किया है। परंतु समस्त कर्मोंके समूहसे रहित केवल मोक्षस्थान ही एक

ऐसा स्थान है जो तेने आज तक कभी कौतूहल मात्रसे भी स्पर्श नहीं किया है। भावार्थ—इस जीवने आजतक केवल मोक्षस्थानका ही स्पर्श नहीं किया है बाकीके लोकाकाशके प्रदेशोंमें तो इसने अनंतवार जन्म मरण धारण किया है इसलिये अब मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि इस जीवके लिये यही एक नवीन स्थान है बाकीके सब स्थान तो भोगे हुए उच्छिष्ट हैं उनका तो त्याग करना ही उत्तम है ॥ २७ ॥

इति लोकानुप्रेक्षा ॥ ९ ॥

—:०:—

आपातरम्यवचनैर्विरसावसानै-
जन्मोद्भवैः सुखलवैः स्खलितान्तरंगः।
दुःखानुषंगकरमर्जितवान्यदेन-
स्तत्त्वं सहस्व हतजीव नवप्रयातम् ॥३८॥

अर्थ—हे पापी हतजीव ! देख ! ये स्त्री आदि भोगोपभोगोंके थोडेसे सुख केवल अनुभव करते समय मनोहर जान पडते हैं परन्तु इनका अंत अत्यंत ही कडवा और नीरस है तथा वह सुख स्त्री माला चंदन आदि संसारके पदार्थोंसे उत्पन्न होता है अथवा वह सुख जन्म मरण रूप संसारको बढानेवाला है सुखदायी नहीं है ऐसे इस थोडेसे सुखसे तेरा

हृदय चलायमान होगया है इसीलिये तू शारीरिक मानसिक और आगन्तुक दुःखोंको उत्पन्न करनेवाला पाप उपार्जन करता रहता है अतएव उन उपार्जन किये हुए नवीन कर्मोंके फलको भी तू ही सहन कर। भावार्थ—ये इंद्रियोंके सुख भोगते समय अच्छे जान पडते हैं परंतु इनका फल अत्यंत दुःख रूप है यह जानता हुआ भी तू उन पापोंको बारबार उपार्जन करता है इसलिये यदि उन दुःखोंसे बचना है तो इंद्रियोंके सुखोंमें लीन मत हो। अनंत सुखमय आत्मामें लीन हो जिससे निरन्तर रहनेवाले अनन्त सुखकी प्राप्ति हो॥

कालुष्यमेषि यदिह स्वयमात्मकामो
जागर्ति तत्र ननु कर्म पुरातनं ते।
योऽहिं विवर्धयति कोऽपि विमुग्धबुद्धिः
स्वस्योदयाय स नरः प्रवरः कथं स्यात्॥

हे जीव! इस संसारमें विषयोंकी अभिलाषा करता हुआ तू जो अपने परिणामोंमें कलुषता धारण करता है उसमें भी तेरे पहिलेके इकट्ठे किये हुए कर्मोंका उदय ही कारण है। यदि पहिलेके अशुभ कर्मोंका उदय न होता तो परिणामोंमें कलुषता नहीं होती। सो ठीक ही है क्योंकि जो महा अज्ञानी वा मूर्ख पुरुष दूध आदि पिलाकर केवल अपना भला चाहनेकेलिये सर्पका पालन पोषण करता है वह पुरुष भला श्रेष्ठ किस प्रकार कहा जा सकता है? भावार्थ—

जिस प्रकार सर्पके पालन पोषण करनेसे आत्माका भला नहीं होता उसी प्रकार कर्मोंके उपार्जन करनेसे आत्माका कभी कल्याण नहीं होता। वे कर्म उदयमें आकर दुःख देते हैं उस दुःखसे अशुभ परिणाम होते हैं उन अशुभ परिणामोंसे फिर अशुभ कर्मोंका बंध होता है। यदि शुभ कर्मोंका उदय हुआ तो उससे अनेक प्रकारकी इच्छाएं लालसाएं उत्पन्न होती हैं जिससे कि फिर अशुभ कर्मोंका ही बंध होता है। इसलिये कर्मोंका नाश करना ही आत्माको कल्याणकारी है। कर्मोंके नाशसे ही आत्माको अनंत सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

आतंकपावकशिखाः सरसावलेखाः
स्वस्थे मनाग्मनसि ते लघु विस्मरन्ति ।
तत्कालजातमतिविस्फुरितानि पश्चा—
ज्जीवान्यथा यदि भवन्ति कुतोऽप्रियं ते ॥

अर्थ—हे जीव! तू थोडा ही नीरोग वा सुखी होने पर अपने मनमें नवीन नवीन अनुभवमें आई हुई उन रोग रूपी अग्निकी ज्वालाओंको बहुत ही शीघ्र भूल जाता है यदि तू उस रोगके समय उत्पन्न हुए विचारोंको " यदि मैं अबकी बार इस रोगसे छूट जाऊंगा तो अवश्य ही धर्मका सेवन करूंगा " इन विचारोंको न भूल जाय, ये विचार तुझे सुखके समयमें भी याद रहें तो फिर तुझसे

पापोंका उपार्जन कभी हो ही नहीं सकेगा। भावार्थ—यह जीव दुःख वा रोगके समय तो विचार करता है कि यदि मैं इस दुःखसे छूट जाऊंगा तो अवश्य ही धर्मका सेवन करूंगा परन्तु ज्योंही वह दुःख चला जाता है त्योंही उसके साथ ही उन विचारोंको भी भूल जाता है, और फिर इंद्रियोंके सुखोंमें तल्लीन हो जाता है यदि दुःख छूट जानेके समय भी इस जीवके ये विचार स्थिर बने रहें और उसके अनुसार यह धर्म सेवन करता रहे तो फिर यह जीव न तो, कभी पापोंका उपार्जन कर सकता है और न कभी दुःखी हो सकता है। फिर तो यह जीव शीघ्र ही कर्मोंको नाशकर अनंत सुख प्राप्त कर सकता है इसलिये धर्म सेवन करनेकी वांछा इस जीवको सदा अपने हृदयमें धारण करना चाहिये और उसके अनुसार सदा धर्मका सेवन करते रहना चाहिये ॥ ४० ॥

इति निर्जराप्रेक्षा ॥ १० ॥

—:※:—

श्रद्धाभिसन्धिरवधूलबहिः समीह—
स्तत्त्वावसायसलिलाहितमूलबन्धः।
आत्मायमात्मनि तनोति फलद्वयार्थी
धर्मं तमाहुरमृतोपमसस्यमाप्ताः ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे जीव! जो आत्मा सम्यग्दर्शनको धारण किये

हुए है, पंचेंद्रियोंके विषयोंकी इच्छा सब जिसने दूर कर दी है अर्थात् पापरूपी क्रियाओंके त्याग करने रूप चारित्रको जिसने धारणकर रक्खा है तथा सात तत्त्व, नौं पदार्थ, छह द्रव्य पांच अस्तिकाय आदि तत्त्वोंके सम्यग्ज्ञानरूपी संसारकी तृष्णाको दूर करनेवाले जलके द्वारा जिसने अपनी जड़ सींच रक्खी है अर्थात् जिसने सम्यग्दर्शनसहित सम्यग्ज्ञान धारण कर रक्खा है और जो स्वर्ग मोक्ष इन दोनोंकी प्राप्ति रूप फलको ही चाहता है, जो कुछ करता है वह सब स्वर्ग मोक्षकी इच्छासे ही करता है अन्य किसी संसारी कार्योंकी इच्छासे नहीं । ऐसा यह आत्मा अपने आत्मा में जो कुछ क्रिया करता है उसीको सर्वज्ञ देव धर्म कहते हैं वही धर्म अमृतके समान फल देनेवाला है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको धारण करनेवाला आत्मा केवल स्वर्ग मोक्षकी इच्छासे अपने आत्मामें लीन होकर जो कुछ ध्यान आदि क्रिया करता है उसीको सर्वज्ञ देव धर्म कहते हैं ऐसे धर्मको धारण करनेसे ही यह जीव समस्त कर्मोंको नाशकर अजर अमर पद प्राप्त कर लेता है और अनंतसुखी हो जाता है ॥ ४१ ॥

मैत्रीदयादमशमागमनिर्वृतानां
बाह्येन्द्रियप्रसरवर्जितमानसानाम् ।
विद्याप्रभाप्रहतमोहमहाग्रहाणां
धर्मः परापरफलः सुलभो नराणाम् ॥

अर्थ—मुझसे सब जीव सुखी रहें ऐसे भावोंको मैत्री कहते हैं, दूसरोंके हित करनेकी प्रवृत्तिको दया कहते हैं, पंचेंद्रियोंको जीतना वशमें रखना दम है, उत्तम क्षमाको शम कहते हैं और भगवान सर्वज्ञ देवके वचनोंको आगम कहते हैं। जो जीव मैत्री दया दम शम और आगमको धारण करनेसे अत्यन्त आनन्दको प्राप्त हुए हैं अथवा मैत्री दया दम शमको आगमके अनुसार धारण कर जो परम आनन्दको प्राप्त हुए हैं तथा जिनका मन स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द आदि पांचों इंद्रियोंके विषयोंमें पांचों इंद्रियोंकी प्रवृत्तियोंको कभी नहीं होने देता और जिन्होंने सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रोंके माहात्म्यसे मोह वा अज्ञानरूपी महा पिशाचको नाश कर दिया है ऐसे मनुष्य मोक्ष और सांसारिक सुख देनेवाले धर्मको बडी अच्छी तरहसे सुगमताके साथ धारण कर लेते हैं।

भावार्थ—स्वर्ग मोक्ष देनेवाला यह धर्म ऐसे ही मनुष्योंके द्वारा धारण किया जाता है जो सब जीवोंमें मैत्रीभाव धारण करते हैं, दया पालन करते हैं, इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं उत्तम क्षमा धारण करते हैं, शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं अपनी इन्द्रियोंको किसी भी विषयमें नहीं लगने देते और जो शास्त्रोंका पठन पाठन कर अज्ञान और मोहको हटा देते हैं।

इच्छाः फलैः कलयति प्ररुणद्धि बाधाः
सृष्टेरसाम्यविभुरभ्युदयादिभिर्यः।

ज्योतींषि दूतयति चात्मसमीहितेषु
धर्मः स शर्मनिधिरस्तु सतां हिताय ॥

अर्थ—जो धर्म स्त्री पुत्र धन धान्य आरोग्य आदि शुभ फल देकर जीवोंके मनोरथोंको पूर्ण करता है, जो शारीरिक मानसिक और आगंतुक दुःखोंको दूर करता है जो राज्य आदि विभूतियोंको देकर संसारमें अपनी अनुपम सामर्थ्यको प्रगट करता है जो आत्माको इष्ट अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य रूप अनंत चतुष्टयोंकेलिए श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यय ज्ञानरूपी दूतोंको भेजता है और जो सुखोंका निधि है ऐसा वह जगतप्रसिद्ध धर्म सज्जन व विद्वान् लोगोंको मोक्ष देनेवाला है। भावार्थ—यह धर्म ही सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला है, धर्म ही सब दुखोंको दूर करनेवाला है, धर्म ही सामर्थ्य प्रगट करनेवाला है, धर्म ही सुखका निधि है और धर्म ही ऋद्धियां तथा अनंत चतुष्टयको प्राप्त करानेवाला है, सज्जन लोगोंको अवश्य ऐसा धर्म धारण करना चाहिये जिससे कि उन्हें शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो जाय।

देहोपहारकृतपैः स्वपरोपतापैः
कृत्वाध्वरेश्वरामिषं विदलन्मनीषाः।
धर्मैषिणो य इह केचन मान्धभाज—
स्ते जातजीविताधियो विषमापिबान्ति ॥

अर्थ—इस संसारमें कितने ही बुद्धिहीन जडरूप मनुष्य ऐसे हैं जो कहने सुननेवाले और करनेवाले सबको दुःख देनेवाले ऐसे तलवारके द्वारा स्त्री पुरुष वा पशुओंको मार कर चढाना अथवा वेदोंको प्रमाण मानकर यज्ञादिकमें पशुओंको होमना आदि पापरूप क्रियोंके द्वारा यज्ञ करने वा महादेवकी पूजा करनेके बहानेसे ही धर्मात्मा बनना चहते हैं परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो मनुष्य जीनेकी इच्छा रखकर विषको पीते हैं।

भावार्थ—यज्ञमें किसी जीवको होमना या किसी देव वा देवीपर किसी पशुको वा पक्षीको चढाना पाप है धर्म नहीं है क्योंकि हिंसा करनेसे कभी धर्म नहीं हो सकता । हिंसासे तो पाप ही होता है अथवा यों कहना चाहिये कि हिंसा सब पापोंकी जड है जो लोग किसी भी प्रकारसे हिंसाको धर्म मानते हैं वे जीनेकी इच्छासे विष पीना चाहते हैं। इसलिए अहिंसारूप धर्म ही आत्माका कल्याण करनेवाला है अन्य नहीं।

येऽन्यत्र मन्त्रमहिमेक्षणमुग्धबोधाः
शर्वैषिणः पुनरतः शिवतां गृणन्ति ।
ते नावि तारणदृशो दृशदोऽवलम्ब्य
दुष्पारमम्बुधिजलं परिलंघयन्ति ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो पुरुष सर्वज्ञ वीतरागको छोडकर अन्य

मतोंमें मंत्रोंकी महिमा देखकर मोहित वा अज्ञानी हो जाते हैं और शिव मतको वा अन्य मतोंको मानने लगते हैं तथा फिर उन्हींसे स्वयं मुक्त होनेकी इच्छा करते हैं वे पुरुष नाव मनुष्योंको पार कर सकती है ऐसी बुद्धि रखकर केवल पत्थरका सहारा लेकर अपार महासागरके जलको पार करना चाहते हैं। भावार्थ—जिसप्रकार यह मनुष्य पत्थर का सहारा लेकर समुद्रसे पार नहीं हो सकता उसीप्रकार कोई भी जीव वीतराग सर्वज्ञ देवके कहे हुए मतको छोड कर अन्य हिंसारूप धर्मको माननेवाले मतोंको पालन करने से कभी मुक्त नहीं हो सकता। इसका भी कारण यह है कि वीतराग हुए विना कभी कषाय वा विकार छूट नहीं सकते और कषायोंके छूटे बिना यह जीव कभी पापोंसे नहीं वच सकता। इसलिये पापोंसे वचनेका एक मात्र उपाय कषायोंका त्याग करना है। समस्त कषायोंका नाश होनेपर यह जीव वीतराग होता है और वीतराग होनेपर सर्वज्ञ होता है उसी अवस्थामें यह अनन्त सुखी होता है। तथा मिथ्याभाषण वा मिथ्या उपदेश अज्ञान वा राग द्वेषसे होता है जो वीतराग और सर्वज्ञ है उसका उपदेश कभी मिथ्या नहीं हो सकता वह यथार्थ ही होगा। इसलिये सर्वज्ञ वीतरागका कहा हुआ मोक्षका मार्ग ही यथार्थ मार्ग है उसीसे इस जीवका कल्याण हो सकता है अन्यसे नहीं। सर्वज्ञ वीतराग सर्वज्ञ वीतराग होनेका ही उपदेश देगा और वही सुखमय

अवस्था है इसलिये वही मत यथार्थ है उसीको पालन करनेसे जीवका कल्याण हो सकता है अन्यसे नहीं।

धर्मश्रुतेरिह परत्र च येऽविचाराः
संदिह्य तामसदृशः सततं यतन्ते।
दुग्धाभिधानसमताविलबुद्धयस्ते
नूनं गवार्करसपानपरा भवन्तु॥ ४६॥

अर्थ—जो श्रीजिनेन्द्रदेवके अनुयायी कहलाकर भी उसको यथार्थ रूपसे नहीं मानते, रात दिन धर्मश्रवण करते हुए भी अरहंत देवके कहे हुए मतमें और अन्य मतोंमें यथेष्ट अन्तर नहीं समझते, उसमें सदा संदेह करते रहते हैं और फिर भी वे मिथ्यादृष्टि उसीरूपमें धर्म पालन करनेकी चेष्टा करते हैं वे केवल नामसे ही दूधकी समानतारूप भ्रष्ट बुद्धिको धारण करते हुए अवश्य ही गायके दूधके भरोसे आकका दूध पीनेमें तत्पर होजाते हैं। भावार्थ—जो पुरुष केवल दूध यह नाम सुनकर ही और सफेद पतलेको देख कर ही गायके दूधके बदले आकका दूध पीते हैं वे अवश्य ही मूर्ख और अविचारी कहलाने योग्य हैं इसी प्रकार जो मनुष्य अरहन्तदेवके कहे हुए धर्ममें और अन्य धर्मोंमें कुछ अन्तर नहीं समझते 'इनमेंसे कौनसा धर्म अच्छा है यह वा वह अथवा दोनों' इसप्रकारका जो संदेह करते रहते हैं वास्तवमें वे भी मिथ्यादृष्टि हैं उस अवस्थामें

उनका धर्म पालन करना भी कुछ कार्यकारी नहीं। इसलिये आत्मकल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको सर्वज्ञ वीतरागदेवका कहा हुआ धर्मका पालन करना चाहिये क्योंकि यही यथार्थ मोक्षमार्गको बतलानेवाला है अन्य नहीं।

अज्ञस्य शक्तिरसमर्थविधेर्निबोध-
स्तौ चारुचेरियममू तुदती न किंचित्।
अन्धांघ्रिहीनहतवांछितमानसानां
दृष्टा न जातु हितवृत्तिरनन्तराया ॥४७॥

अर्थ—अज्ञानी वा मिथ्याज्ञानी पुरुषके चारित्र नहीं हो सकता तथा चारित्रहीन पुरुषके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। यह मिथ्यादर्शन सम्यग्ज्ञान और ...रित्र दोनोंको पीड़ित करता है अर्थात् दोनोंको नहीं होने देता। जिसप्रकार कि अंधे लंगडे और इच्छा रहित मनुष्योंका हित निर्विघ्न रीतिसे कभी देखनेमें नहीं आता। भावार्थ—जिस प्रकार अंधा लंगडा और आलसी वा इच्छारहित मनुष्यका हित निर्विघ्न रीतिसे नहीं हो सकता उसीप्रकार मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र धारण करनेवालेको अथवा सम्यग्दर्शनरहित सम्यग्ज्ञान रहित और सम्यक्चारित्ररहित पुरुषको मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। मोक्षकी प्राप्ति इन तीनों रत्नोंकी पूर्णतासे होती है। वह न तो केवल सम्यग्दर्शनसे सिद्ध

सकती है, न केवल सम्यग्ज्ञानसे मिल सकती है और न केवल सम्यक्चारित्रसे मिल सकती है इन तीनोंके मिलकर पूर्ण होनेसे ही मिल सकती है इनके विपरीत मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे तो कभी किसी तरहसे नहीं मिल सकती । इससे सिद्ध होता है धर्मका स्वरूप रत्नत्रय ही है अन्य नहीं ॥ ४७ ॥

चार्व्यां रुचौ तदुचितां चरणे च नृणां
इष्टार्थसिद्धिरगदादिनिषेवणेषु ।
तस्मात्परापरफलप्रदधर्मकामा
सन्तस्त्रयावगमनीतिपरा भवन्तु ॥ ४८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कोई रोगी पुरुष उस रोगको दूर करनेवाली औषधिको अच्छी तरह जानता हो, रुचिपूर्वक उस कड़वी औषधिको भी पीनेकी इच्छा रखता हो और फिर रुचिपूर्वक उसे पीता हो तभी वह अपने रोगको दूर कर सकता है अन्यथा नहीं उसीप्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके होने पर ही मोक्षरूप कार्यकी सिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं । इसलिये जो पुरुष इस स्वर्गमोक्ष देनेवाले धर्मको पालन करना चाहते हैं उन्हे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंका स्वरूप अच्छी तरह जान लेना चाहिये । भावार्थ—

वनशिखिनि मृतोन्धः संचरन् बाढमंघ्रि-

द्रुतवविकलमूर्तिर्वीक्ष्यमाणोऽपि पंगुः ।

अपि सनयनपादोऽश्रद्दधानश्च तस्माद्

दृगवगमचरित्रैः संयुतैरेव सिद्धिः ॥

अर्थात्—जिसप्रकार जलते हुए वनमें अकेला अंधा पुरुष भी नहीं बच सकता, न दोनों पैरोंसे रहित लंगडा उस अग्निको देखता हुआ भी बच सकता है और न उस अग्निपर अविश्वास रखनेवाला पेर आंख दोनोंके रहते हुए भी बच सकता है उसीप्रकार न अकेले सम्यग्दर्शनसे कर्म नष्ट हो सकते हैं न सम्यग्ज्ञानसे और न अकेले सम्यक्चारित्रसे किंतु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके मिलनेसे—पूर्ण होनेसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं ॥ ४८ ॥

इति धर्मानुप्रेक्षा ।

—:॥:—:॥:—

संसारसागरमिमं भ्रमता नितान्तं

जीवेन मानवभवः समवापि दैवात् ।

तत्रापि यद्भुवनमान्यकुले प्रसूतिः

सत्संगतिश्च तदिहान्धकवर्तकीयम् ॥४९॥

अर्थ—प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले चतुर्गतिरूप संसार सागरमें अत्यंत परिभ्रमण करते हुए इस जीवको यह

मनुष्यजन्म बडे पुण्यकर्मोंके उदयसे प्राप्त हुआ है उस मनुष्य जन्मके पालेनेपर भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन उत्तम कुलोंमें जन्म होना और महामुनि ऐसे सज्जन पुरुषोंका समागम मिलना इस संसारमें अंधेके हाथ बटेर लगनेके समान अत्यंत दुर्लभ है। भावार्थ—इस संसारमें प्रथम तो मनुष्य जन्म ही अत्यंत दुर्लभ है क्योंकि संसारमें अनंत जीवराशि भरी हुई है उसमें यह मनुष्य जन्म ही उत्तम है जोकि बडे पुण्य कर्मके उदयसे प्राप्त होता है। कदाचित् ऐसे ही किसी पुण्य कर्मके उदयसे वह मनुष्य जन्म प्राप्त भी हो जाय तो जिस प्रकार कोई अंधा पुरुष दोनों हाथोंसे ताली बजावे और उसके दोनों हाथोंके मध्यमें बटेर पक्षी आजाय इस प्रकार अंधेके हाथ बटेरका लगना अत्यंत कठिन है उसी प्रकार उत्तम कुलमें जन्म होना और मुनियोंका समागम मिलना भी अत्यंत कठिन है, अत्यंत दुर्लभ है।

कृच्छ्राद्वनस्पतिगतेश्च्युत एष जीवः
श्वभ्रेषु कल्मषवशेन पुनः प्रयाति।
तेभ्यः परस्परविरोधिमृगप्रसूता-
वस्याः पशुप्रतिनिभेषु कुमानवेषु ॥५०॥

अर्थ—यद्यपि यह आत्मा स्वानुभूतिसे प्रत्यक्ष होनेवाला है तथापि तिर्यंच गतिमें परिभ्रमण करते हुये इसे अनंत काल बीत जाता है वहांसे निकलना इसके लिये अत्यंत कठिन

हो जाता है कदाचित् बडी कठिनतासे वहांसे निकल भी आवे तो फिर पाप कर्मके उदयसे नरकमें जा पडता है और कितनी ही वार तिर्यच होकर फिर सातों नरकोंके घोर दुखोंका अनुभव करता है। फिर वहांसे निकलकर सिंह हाथी, वाघ, हिरण, विल्ली, चूहा, न्योला, सर्प, मयूर, वाज, कबूतर, आदि परस्पर विरोध रखनेवाले जातिविरोधी तिर्यंच गतिके जीवोंमें जन्म लेता है और फिर वहांसे भी निकलकर पशुओंके समान रहनेवाले कुभोग भूमियोंके म्लेच्छ मनुष्योंमें जन्म लेता है। भावार्थ—प्रथम तो निगोदसे निकलना ही अत्यंत कठिन है फिर पृथिवी जल तेज वायु वनस्पति कायोंसे निकल कर त्रस पर्याय मिलना अत्यंत दुर्लभ है, त्रस पर्यायमें भी दोइन्द्रिय तेइंद्रिय चोइंद्रिय और पंचेंद्रिय पशुओंमें वहुत दिनतक परिभ्रमण करता रहता है वहांसे निकला तो फिर नरकमें जा पड़ता है वहांसे फिर तिर्यंच होता है फिर नरकमें जाता है फिर जातिविरोधी जीवोंमें जन्म लेता है फिर नरक जाता है इन दोनों गतियोंसे निकलना अत्यन्त कठिन है कदाचित् निकला और मनुष्य गति प्राप्त हुई तो पशुओंके समान रहनेवाले कुभोग भूमियोंमें जा उत्पन्न होता है इसप्रकार यह जीव चारों गतियोंमें परिभ्रमण किया करता है ॥ ५० ॥

संसारयन्त्रमुदयास्तघटीपरीतं
सातानतामसगुणं भृतमाधितोयैः।

इत्थं चतुर्गतिसरित्परिवर्तमध्य-
मावाहयेत्स्वकृतकर्मफलानि भोक्तुम् ॥

अर्थ—यह संसार एक प्रकारकी अरहटकी घडीका यंत्र है इसके चारों ओर सूर्यके उदय और अस्तरूपी घडियां (पानी भरनेके छोटे घडे) लगी हुई हैं। बहुत बडा पापोंका समूह ही इसके चलानेकी लंबी और मोटी रस्सी (वरत) है। मानसिक दुःखरूपी अगाध जलसे यह भरा हुआ है और नरक तिर्यंच मनुष्य देव इन चारों गतिरूप नदीके भंवरके मध्य भागमें यह यन्त्र लगा हुआ है ऐसे संसाररूपी अरहट की घडीके इस यंत्रको अपने किये हुए पुण्य पापरूप कर्मोंके सुख दुखरूप फलोंको भोगनेकेलिये ऊपरके ५० वें श्लोक में कहे अनुसार चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव सदा चलाया करता है। भावार्थ—यह जीव जो चारों गतियोंमें परिभ्रमण किया करता है वह मानों इस संसार यंत्रको चलाया करता है यदि इसका यह परिभ्रमण बन्द हो जाय तो इसका जन्म मरण रूप संसार वा संसारके दुख सब बंद हो जांय। इसलिये उन दुःखोंसे वचनेके लिये इस जीवको चाहिये कि वह आगे लिखे अनुसार रत्नत्रयकी प्राप्तिका उपाय करे। विना रत्नत्रयको प्राप्त किये वह कभी अनंतसुखी नहीं हो सकता ॥ ५१ ॥

आतंकशोकभयभोगकलत्रपुत्रै-
र्यः खेदयेन्मनुजजन्ममनोरथासम् ।

नूनं स भस्मकृतधीरिह रत्नराशि-
मुद्दीपयेदतनुमोहमलीमसात्मा ॥ ५२ ॥

अर्थ—यह मनुष्य जन्म अनेक मनोरथोंसे प्राप्त हुआ है जो मनुष्य इस मनुष्य जन्मको पाकर भी केवल रोग शोक भय, धन धान्यादिक भोग, स्त्री, पुत्र आदिके द्वारा गंवा देता है समझना चाहिये कि उसका आत्मा प्रबल मोहसे अत्यन्त मलिन हो रहा है और वह केवल भस्मके लिये बहुमूल्य अनेक रत्नोंकी राशियोंको जला देता है। भावार्थ—इस संसारमें मनुष्य जन्मकी प्राप्ति ही अत्यंत दुर्लभ है इसको पाकर भी जो मोक्षमार्गमें नहीं लगते, धर्म सेवन नहीं करते केवल धन कमाने वा परिवारके पालन पोषणहीमें लगे रहते हैं वे सबसे अधिक मूर्ख हैं। अत्यन्त प्रबल मोहनीय कर्मके उदयसे ही वे इसप्रकार जन्मको खो रहे हैं परन्तु उनका इसप्रकार मनुष्य जन्मका खोना केवल भस्मके लिये बहुमूल्य रत्नोंको जलाना है। क्योंकि एकवार निकल जानेपर फिर यह मनुष्य जन्म थोडे ही मिलता है। इसलिये इस मनुष्य जन्मको पाकर धर्म सेवन करना और रत्नत्रयकी प्राप्ति करना ही इस मनुष्यका कर्तव्य है इसीसे यह मनुष्यजन्म सफल हो सकता है अन्यथा नहीं ॥ ५२ ॥

बाह्यप्रपंचविमुखस्य शमोन्मुखस्य
भूतानुकम्पनरुचः प्रियतत्त्ववाचः।

प्रत्यक्प्रवृत्तहृदयस्य जितेन्द्रियस्य
भव्यस्य बोधिरियमस्तु पदाय तस्मै ॥

अर्थ-जो भव्य जीव विषय कषायरूपी बाह्य प्रपंचोंसे परान्मुख है जिसका आत्मा शांत है अथवा जिसके पाप कर्म (दर्शन मोहनीय कर्म) उपशम होनेवाला है, जो समस्त प्राणियोंकी दया पालन करनेमें गाढ श्रद्धा रखता है, जिसकी वाणी कानोंको अमृतके समान मधुर लगती है और यथार्थ तत्त्वोंका निरूपण करती है, जिसका हृदय परमात्माके स्वरूपमें ही लगा रहता है और जिसने अपनी सब इन्द्रियां वशमें कर ली हैं ऐसे भव्य जीवकेलिये यह रत्नत्रयकी प्राप्ति उस जगतप्रसिद्ध मोक्षरूप परमपदको देनेवाली हो। भावार्थ-इस संसारमें रत्नत्रयकी प्राप्ति होना ही अत्यन्त दुर्लभ है और वह ऊपर लिखे गुणोंसे विभूषित भव्य जीवको ही प्राप्त होती है इसलिये रत्नत्रय प्राप्त करनेके लिये इस मनुष्यको विषयकषाय छोड देने चाहिये, सब जीवोंमें दया रखनी चाहिये, आगमके अनुसार वचन कहने चाहिये, जितेन्द्रिय बनना चाहिये और परमात्माके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही इसको रत्नत्रयकी प्राप्ति होगी और रत्नत्रयसे मोक्ष प्राप्त होकर यह जीव सदाके लिए अनंत सुखी हो जायगा ॥ ५३ ॥

इति बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा ॥ १२ ॥

इति द्वादशानुप्रेक्षा समाप्ता।